Sociology

LL.B

V- Years

II-Semester

प्र0–1 भारतीय समाज के प्राचीन दृष्टिकोंण के महत्व पर प्रकाश डालिए ?

उत्तर– भारतीय समाज का सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास बहुत प्राचीन रहा है। सामाजिक व्यवस्था को सरल, आत्मनिर्भर और समूहवादी रूप देने के लिए तत्कालीन सामाजिक व्यवस्थाकारों ने वर्ण, आश्रम, धर्म, कर्म तथा संस्कारों से सम्बन्धित ऐसे विचार विकसित किये जिनकी सहायता से सामाजिक संगठन को अधिक सुदृढ़ बनाया जा सके। एक लम्बे समय तक सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित यह शास्त्रीय व्यवस्था भारतीय समाज में सभी व्यक्तियों और समूहों के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण करने और विभिन्न उप–व्यवस्थाओं, जैसे–परिवार, नातेदारी, उत्तराधिकार, शिक्षा, राजनीति और न्यायिक व्यवस्था को सन्तुलित बनाये रखने में योगदान करती रही। इसके बाद जैसे–जैसे भारतीय समाज का अपने से भिन्न संस्कृतियों वाले समूहों के साथ सम्पर्क बढ़ता गया तथा हमारी शास्त्रीय परम्पराएँ अपने मौलिक रूप से दूर हटकर रूढ़िगत होने लगीं, समाज में लोगों के मूल्यों और विचारों में भी परिवर्तन होने लगा।

भारतीय समाज में प्राचीन दृष्टिकोण के महत्व को निम्नांकित बिंदुओं के द्वारा स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है:–

1. **<u>बन्द स्तरीकरण द्वारा संघर्षों पर नियन्त्रण</u>**:– दुनिया के सभी समाज विभिन्न वर्गों और समूहों में विभाजित रहे हैं। विभिन्न वर्गों के अधिकारों और उनकी सामाजिक प्रस्थिति में भी एक स्पष्ट अन्तर देखने को मिलता है। प्राचीन भारतीय समाज में स्तरीकरण की एक ऐसी व्यवस्था विकसित की गयी जिसमें समाज के सभी स्तरों की प्रस्थिति सुनिश्चित हो तथा सभी लोग अपनी–अपनी

सामाजिक प्रस्थिति से सन्तुष्ट रहें। इसका उद्देश्य एक ओर विभिन्न समूहों के बीच व्यर्थ की प्रतियोगिता को रोकना तथा दूसरी ओर, उनके बीच संघर्षों की सम्भावना को कम से कम करना था। जिन संस्कृतियों में एक खुले सामाजिक स्तरीकरण का दावा किया जाता रहा है, वहाँ भी प्रजाति, वंश और लिंग के आधार पर सामाज कुछ निश्चित स्तरों में बँटा हुआ है। पूँजीवादी समाजों में आज भी विभिन्न वर्गों के बीच लगभग उतना ही अन्तर है जितना कि भारत के प्राचीन समाज में विभिन्न वर्णों और जातियों के बीच देखने को मिलता था। भारत के इस बन्द स्तरीकरण की चाहे कितनी भी आलोचना की जाय लेकिन इसने एक लम्बे समय तक सामाजिक संगठन और सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने में आश्चर्यजनक योगदान किया।

2. **श्रम–विभाजन तथा विशेषीकरण**:– बहुत–से व्यक्ति आर्थिक क्षेत्र में श्रम–विभाजन और विशेषीकरण को विकास की एक नयी प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। यदि हम भारतीय समाज से सम्बन्धित शास्त्रीय दृष्टिकोण को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए श्रम–विभाजन और विशेषीकरण के उद्देश्य से ही समाज का वर्णों में विभाजन किया गया। वर्तमान युग में श्रम–विभाजन और विशेषीकरण से बेरोजगारी और संघर्ष की जो दशाएँ पैदा हुई हैं, परम्परागत भारतीय समाज में विभिन्न मूल्यों और विश्वासों के द्वारा उनका भी समाधान खोज लिया गया था। वर्ण–व्यवस्था के द्वारा विभिन्न समूहों के बीच श्रम–विभाजन करके सभी लोगों को अपने–अपने आनुवांशिक

व्यवसाय में कुशलता विकसित करने का अवसर दिया गया। इसके बाद भी विभिन्न वर्णों के कर्तव्य इस तरह निर्धारित किये गये जिससे सभी समूह मिल–जुलकर एक–दूसरे की आवश्यकताओं को पूरा करते रहें। यह एक ऐसा प्रयत्न था जिसकी हट्टन तथा अब्बे डूब्बाय ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।

3. **<u>प्रस्थिति तथा भूमिका में सन्तुलन</u>** :– प्राचीन दृष्टिकोण इस मान्यता पर आधारित था कि सामाजिक संगठन के लिये व्यक्ति की विभिन्न प्रस्थितियों और उनसे सम्बन्धित भूमिकाओं मे एक सन्तुलन बना रहना जरूरी है। इसी उदेश्य से जहॉ वर्ण तथा आश्रम व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण किया गया, वहीं पुरूषार्थ, यज्ञों, के निर्वाह तथा विशिष्ट धर्म के द्वारा यह तय किया गया कि एक विशेष परिस्थिति के अनुसार व्यक्ति किन–किन कर्तव्यों से पूरा करेगा। यहॉ तक कि परिवार और नातेदारी समूह मे भी व्यक्ति की भूमिका इस तरह निर्धारित की गयी जिससे प्रस्थिति और भूकिा के बीच किसी तरह का संघर्ष न हो। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम में व्यक्ति की भूमिकाएँ एक–दूसरे से अलग रखी गयीं। विशिष्ट धर्म के द्वारा यह सुनिशिचित कर दिया गया कि एक पिता, पुत्र, भाई अधिकारी, कर्मचारी अथवा मित्र के रूप में व्यक्ति किन कर्तव्यों को पूरा करेगा। इसी तरह ऋणों और यज्ञों की अवधारणा इसलिए विकसित की गयी जिससे व्यक्ति देवताओं, गुरू, माता–पिता, अतिथियों और सामान्य जीवों के प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा कर सके।

4. **सामूहिकता को प्रोत्साहन** :– प्राचीन भारतीय समाज एक ऐसे दृष्टिकोण पर आधारित रहा जिसमें व्यक्तिवादिता की जगह सामूहिकता को कहीं अधिक महत्व दिया गया। व्यक्तिवादिता की भावना से पारस्परिक संघर्ष और तनाव बढ़ते हैं, जबकि सामूहिकता सामाजिक जीवन को व्यवस्थित रखने के साथ ही मानसिक विकास के लिए अधिक उपयोगी होती है। इसी उदेश्य को लेकर यहॉ संयुक्त परिवार व्यवस्था की परम्परा आरम्भ की गयी जिसमें सभी सदस्यों को अधिक से अधिक सामाजिक सुरक्षा मिलती रहे। परम्परागत गाँव पंचायतों द्वारा लिये जाने वाले निर्णय, नातेदारी व्यवस्था तथा जजमानी व्यवस्था का उदेश्य भी व्यक्ति को मिल–जुलकर काम करने की प्रेरणा देना और एक–दूसरे के हितों का अधिक से अधिक ध्यान रखना था। पी0एच0प्रभु ने लिखा है कि परम्परागत भारतीय व्यवस्था इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त पर आधारित थी कि समाज और व्यक्ति एक–दूसरे के पूरक हैं तथा अपने निजी लाभ पर ध्यान दिये बिना समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा करना व्यक्ति के लिए अधिक आवश्यक है। भारतीय समाज के शास्त्रीय दृष्टिकोण की यह एक ऐसी विशेषता है जिसका अनेक समाज आज फिर से अनुभव करने लगे हैं।

5. **सामाजिक नियन्त्रण का धार्मिक आधार** :– सामाजिक नियन्त्रण सभी समाजों की एक अनिवार्य विशेषता है। नियन्त्रण के द्वारा ही सामाजिक जीवन को संगठित बनाया जाता है। वर्तमान युग में जहॉ कानून तथा औपचारिक दण्ड व्यवस्था के द्वारा नियन्त्रण की स्थापना की जाती है, वहीं प्राचीन भारतीय परम्परा में धार्मिक

आधार पर अनौपचारिक नियन्त्रण को अधिक उपयोगी समझा गया। यह मान लिया गया कि आत्म–नियन्त्रण के बिना सामाजिक नियन्त्रण को प्रभावपूर्ण नहीं बनाया जा सकता। इसी के फलस्वरूप प्रत्येक स्थिति मे व्यक्ति के कर्तव्यों को स्पष्ट किया गया तथा कर्म के सिद्धान्त के द्वारा व्यक्ति को यह विश्वास दिलाया गया कि अच्छे कर्मो के द्वारा ही वह वर्तमान और पारलौकिक जीवन में विभिन्न प्रकार की सफलताएं प्राप्त कर सकता है। जीवन में सम्बन्धित विभिन्न संस्कारों की पूर्ति करने का उदेश्य भी व्यक्ति को अपने कर्तव्यों का बोध कराना ही था।

6. **व्यक्ति का नैतिक तथा मनौवैज्ञानिक विकास–** भारतीय समाज के बारे में शास्त्रीय दृष्टिकोण इस मान्यता पर आधारित था कि समाज को संगठित बनाये रखने के लिये व्यक्ति का जीवन नैतिक और मनोवैज्ञानिक रूप से संगठित होना जरूरी है। व्यक्तित्व नैतिक रूप से संगठित बत रहता है जब उसमें मानवीय गुणों का विकास हो तथा मनोवैज्ञानिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति का बौद्धिक विकास होने के साथ ही उसे सभी तरह की सामाजिक और आर्थिक सुरक्षाएँ मिलती रहीं। वास्तव में, किशोरावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था में व्यक्ति की मनोवृत्तियों, कार्य–कुशलता और अनुभवों में परिवर्तन होता रहता है। इसी कारण आश्रम व्यवस्था के द्वारा विभिन्न आयु के लोगों के कर्तव्य एक–दूसरे से भिन्न निर्धारित किये गये। पुरूषार्थ तथा ऋणों की अवधारणा के द्वारा व्यक्ति के जीवन को नैतिक बनाने का प्रयत्न किया गया। कर्म के सिद्धान्त के द्वारा उसे यह विश्वास

दिलाया गया कि अपने कर्तव्यों को पूरा करने से ही व्यक्ति इसी जीवन के साथ अपने आगामी जीवन में भी सुधार ला सकता है। इसी कारण अनेक भारतीय विचारकों ने शास्त्रीय चिन्तन को समाज से सम्बन्धित एक नैतिक–मनोवैज्ञानिक चिन्तन का नाम दिया है।

7. **सीख की प्रक्रिया में सरलता :–** शास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था अधिक उपयोगी होती है जिसमें परम्पराओं के पालन द्वारा सामाजिक सीख की प्रक्रिया को सरल रूप दिया जाय। सभी समाजों में साामाजिक सीख के द्वारा ही व्यक्ति का समाजीकरण होता है। यदि हम नये–नये प्रयोगों और व्यवहार के नये तरीकों के द्वारा समाज से अनुकूलन करते हैं तो इससे नवाचारों में वृद्वि जरूर होती है लेकिन असफलता मिलने पर व्यक्ति का जीवन तरह–तरह के तनावों से भी घिरने लगता है। अक्सर इससे वैयक्तिक विघटन की समस्या सामने आ जाती है। परम्परागत भारतीय समाज में इस समस्या का समाधान करने के लिए व्यवहार के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसी परम्पराएँ विकसित की गयीं जिनकी सहायता से लोग अतीत के अनुभवों का लाभ उठाकर सरलता से अपने समाज से अनुकूलन कर सकें।

8. **सांस्कृतिक एकीकरण :–** भारत और पश्चिम के अनेक वर्तमान समाजशास्त्री यह मानते हैं कि शास्त्रीय दृष्टिकोण पर आधारित विभिन्न संस्थाओं और सामाजिक व्यवस्थाओं के कारण भारतीय समाज में विभाजन की प्रक्रिया पैदा हुई तथा इससे सामाजिक और राष्ट्रीय एकीकरण में बाधा पहुँची। वास्तविकता इससे भिन्न है।

स्वतन्त्रता से पहले तक भारतीय समाज हमेशा बहुत छोटे–छोटे राज्यों में विभाजित रहा। विभिन्न क्षेत्रों के राजाओं की नीतियॉ एक दूसरे से बहुत भिन्न थीं। इसके बाद भी सभी राज्यों में लोगों का जीवन शास्त्रीय परम्पराओं से बॅधा होने के कारण पूरा देश एक संस्कृति के अधीन रहा। यहॉ तक कि मुस्लिम और ब्रिटिश काल में एक बडे विदेशी सम्राज्य की स्थापना होने के बाद भी भारतीय समाज की संस्कृति का अस्तित्व बना रहा। इसका तात्पर्य है कि शास्त्रीय दृष्टिकोण ने भारतीय समाज में सांस्कृतिक एकीकरण को बनाये रखने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

प्र0–2 भारतीय समाज के आनुभविक दृष्टिकोंण को विस्तारपूर्वक समझाइये।

उत्तर– उन्नीसवीं शताब्दी से जैसे–जैसे भारत में पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव से मानवतावाद और वैयक्तिक स्वतन्त्रता की जरूरत को महसूस किया जाने लगा, भारतीय समाज से सम्बन्धित शास्त्रीय या परम्परागत व्यवस्थाओं के प्रति लोगों का असन्तोष बढ़ने लगा। इसी के फलस्वरूप हमारी प्राचीन सामाजिक संस्थाओं या व्यवहार के नियमों में परिवर्तन होना आरम्भ हो गया। हमारी अर्थव्यवस्था और राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन होने के साथ एक ऐसी समाजिक व्यवस्था की जरूरत महसूस की जाने लगी जो सामाजिक न्याय, समानता, वैयक्तिक स्वतन्त्रता और लोकतान्त्रिक मूल्यों पर आधारित हो। इसी का परिणाम है कि व्यवहार में जहाँ एक ओर शास्त्रीय विचारों पर आधारित सामाजिक व्यवस्था के अधिकांश पक्ष तेजी से कमजोर होते जा रहे हैं, वहीं दूसरी ओर, हमारे सामाजिक मूल्यों और व्यवहार के नियमों में इस तरह परिवर्तन हो रहा है

कि अतीत का धर्म–प्रधान और स्तरीकृत समाज एक धर्मनिरपेक्ष और समताकारी समाज के रूप में बदलने लगा है। यही कारण है कि वर्तमान समाजशास्त्रियों ने विभिन्न क्षेत्रों में भारतीय समाज के समकालीन पक्षों का आनुभविक अध्ययन करके इसकी वर्तमान प्रकृति को स्पष्ट करना आरम्भ किया। सच तो यह है कि आज क्षेत्रीय अध्ययनों की सहायता से ही वर्तमान भारतीय समाज को सही रूप से समझा जा सकता है।

भारत में स्वतन्त्रता के बाद जब अनेक मानव शास्त्रियों तथा समाजशास्त्रियों ने समाज के विभिन्न पक्षों का भिन्न–भिन्न हिस्सों में क्षेत्रीय अध्ययन करना आरम्भ किया तो समाज की एक नयी तस्बीर सामने आने लगी। इस सम्बन्ध में हम एस0एन0श्रीनिवास, एस0सी0दुबे तथा आन्द्रे बितेई के विचारों का पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त अनेक दूसरे विद्धानों ने भी भारत के भिन्न–भिन्न क्षेत्रों में ग्रामीण सामाजिक संरचना, सामाजिक स्तरीकरण, राजनीतिक व्यवस्था, विवाह, नातेदारी, जजमानी व्यवस्था, अन्तर्जातीय सम्बन्धों तथा जातिगत नियमों के पालन से सम्बन्धित आनुभविक अध्ययन किये। आरम्भिक क्षेत्रीय अध्ययन जाति व्यवस्था के विभिन्न पक्षों तक ही सीमित रहे। ऐसे अध्ययन मुख्य रूप से जी0एस0घुरिये, वाइजर, बेली, नर्मदेश्वर प्रसाद, डी0एन0मजूमदार तथा एम0एन0 श्रीनिवास द्वारा किये गये। इसके बाद इरावती कर्वे, कापडिया, दामले तथा कुछ दूसरे लेखकों ने परिवार और नातेदारी को भारतीय सामाजिक संरचना का आधार मानते हुए इनके विभिन्न पक्षों का विश्लेषण किया।

ए0आर0 देसाई द्वारा सम्पादित पुस्तक ''भारत में ग्रामीण समाजशास्त्र'' में जब बहुत से समाज शास्त्रियों ने अपने क्षेत्रीय अध्ययनों

के आधार पर विभिन्न लेख लिखे तो यह माना जाने लगा कि भारतीय समाज को समझने के लिये ग्रामीण समाज का आनुभविक अध्ययन करना बहुत अधिक आवश्यक है। ग्रामीण समाज एक ऐसी प्रयोगशाला है जिससे प्राप्त होने वाले निष्कर्ष भारतीय समाज को समझने में सबसे अधिक मदद कर सकते हैं। इसके फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रीय अध्ययनों की एक नयी परम्परा आरम्भ हुई। एक ओर एस0सी0दुबे, बी0आर0चौहान, एम0एन0श्रीनिवास, मैकिम मेरिएट तथा मजूमदार ने एक–एक गाँव की सम्पूर्ण सामाजिक संरचना का अध्ययन करके इसमें होने वाले परिवर्तनों और नये प्रतिमानों का उल्लेख किया तो दूसरी ओर, रेडफील्ड तथा ड्यूमॉ ने उन परम्पराओं का समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया जिनके आधार पर ग्रामीण संस्कृति को समझा जा सकता है। सच्चिदानन्द तथा उनके दूसर अध्ययनकर्ताओं ने अनुसूचित जातियों की मनोवृत्तियों, समस्याओं और परिवर्तन की प्रक्रियाओं के आधार पर भारतीय समाज के नये पक्ष पर प्रकाश डाला। एम0एस0ए0राव ने पिछड़े वर्गो की प्रस्थिति के आधार पर भारत में उभरती हुई एक नयी सामाजिक संरचना को स्पष्ट किया। धनागरे ने उन आन्दोलनों को स्पष्ट किया जो एक बडी सीमा तक भारतीय समाज में पैदा होने वाले परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। तात्पर्य यह है कि भारतीय समाज के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित क्षेत्रीय अध्ययनों से यहॉ विकसित होने वाली नयी संस्थाओं की जानकारी होने के साथ ही वे प्रवृत्तियॉ भी स्पष्ट होने लगीं जिन्हे भारतीय समाज के शास्त्रीय दृष्टिकोण के आधार पर नहीं समझा जा सकता था। इस सम्बन्ध में श्रीनिवास ने लिखा है कि ''आज क्षेत्रीय अध्ययनों के द्वारा ही वास्तविक और वैज्ञानिक सामाजिक तथ्यों को

समझा जा सकता है। क्षेत्रीय अध्ययन यह स्पष्ट करने में भी सहायता करते हैं कि भारतीय समाज के बारे में शास्त्रीय दृष्टिकोण किस सीमा तक सही है।''

क्षेत्रीय अध्ययनों का महत्व स्पष्ट करने में डॉ0 दुबे के विचार भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार शास्त्रीय दृष्टिकोण के आधार पर हमें धर्मग्रन्थों में वर्ण, जाति, आश्रम, पुरूषार्थ अथवा कर्म से सम्बन्धित जो विचार मिलते हैं, उनका भारतीय समाज की वर्तमान संरचना को समझने में अधिक योगदान नहीं है। इसका कारण यह है कि इन सभी संस्थाओं और विचारों का सम्बन्ध कभी भी जनसाधारण से नहीं रहा। इनके वास्तविक अर्थ और उदेश्य समाज के छोटे से बौद्धिक वर्ग तक ही सीमित रहे। जनसाधारण के लिए यह वैचारिक सिद्धान्त उन गाथाओं तक ही सीमित रहे जिनमें इनकी मूल भावना का अभाव था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय समाज पर होने वाले वर्तमान क्षेत्रीय अध्ययन भारतीय सामज के वास्तविक रूप को समझने का एक विश्वसनीय उपकरण हैं। विभिन्न क्षेत्रों में आनुभविक दृष्टिकोण के महत्व को अग्रांकित रूप से समझा जा सकता है –

1. **<u>सामाजिक स्तरीकरण के नये प्रतिमान की जानकारी</u>** :–

   भारत में जाति तथा वर्ग व्यवस्था से सम्बन्धित अध्ययनों से ही यह स्पष्ट हुआ कि समाज में सामाजिक स्तरीकरण के बन्द व्यवस्था तेजी के साथ एक खुली व्यवस्था के रूप में बदलती जा रही है। अधिकांश व्यक्ति अब यह मानने लगे हैं कि जातियों का संस्तरण तथा जातिगत नियम किसी ईश्वरीय व्यवस्था से सम्बन्धित नहीं हैं बल्कि असमानताकारी दुराग्रहों पर आधारित हैं। आन्द्रे बितेई के

अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो गया कि सामाजिक स्तरीकरण का सबसे महत्वपूर्ण आधार आज समाज में व्यक्ति को मिलने वाली शक्ति है। इन्हीं अध्ययनों के प्रभाव से निम्न और पिछडें वर्गो ने अपनी आर्थिक और राजनीतिक शक्ति को बढ़ाना आरम्भ किया।

2. **ग्रामीण सामाजिक संरचना का विश्लेषण** :– भारतीय समाज में सम्बन्धित शास्त्रीय दृष्टिकोण एक परम्परागत और ग्रामीण सामाजिक संरचना से सम्बन्धित है। क्षेत्रीय अध्ययनों से ही यह स्पष्ट हो सका है कि भारतीय समाज को समझने के लिए ग्रामीण सामाजिक संरचना के विभिन्न पक्षों में होने वाले परिवर्तनों को समझने के साथ ही नगरीकरण की प्रवृत्तियो को समझना भी आवश्यक है। आज ग्रामीण नगरीय सातत्य की जो अवधारणा विकसित हुई है, वह आनुभविक अध्ययनों का ही परिणाम है।

3. **दुर्बल वर्गो की प्रस्थिति में सुधार** :– **एम0एस0ए0राव** का विचार है कि विभिन्न क्षेत्रों में अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा पिछडें वर्गो से सम्बन्धित जो आनुभविक अध्ययन किये गये, उन्हीं की सहायता से इन वर्गो की वास्तविक समस्याओं को समझकर इनकी प्रस्थिति में सुधार करने के लिए अनेक उपयोगी कार्यक्रम लागू किये जा सके हैं। कुछ समय पहले तक लोगों को यह भी आभास नहीं था कि भारत की जनसंख्या में समाज के दुर्बल वर्गो का प्रतिशत 50 से भी अधिक है। इन वर्गो की प्रस्थिति में होने वाला परिवर्तन और सुधार वह महत्वपूर्ण आधार है जिसकी सहायता से भारतीय समाज के वर्तमान रूप को समझा जा सकता है।

4. **नीतिगत परिवर्तनों के आधार** :— क्षेत्रीय अध्ययन इस दृष्टिकोण से भी बहुत उपयोगी सिद्व हुए हैं कि इनकी सहायता से अतीत की सामाजिक संस्थाओं तथा विभिन्न सामाजिक आर्थिक व्यवस्थाओं में होने वाले परिवर्तन की वास्तविकता को समझकर उपयोगी नीतियों का निर्माण किया जा सकता है। वास्तव में भारतीय समाज से सम्बन्धित सामाजिक संस्थाओं की जो जानकारी हमें धर्मग्रन्थों या प्राचीन पुस्तकों से प्राप्त होती है, उसे व्यावहारिक और विश्वसनीय नहीं माना जा सकता समाज के आनुभविक अध्ययनों से जो तथ्य प्राप्त हुए उन्हीं की सहायता से ग्रामीण सामाजिक संरचना में परितर्वन लाने के लिए ऐसे कानून बनाये जा सके जिनसे परम्परागत भूमि अधिकारों, उत्तराधिकारी नेतृत्व और दुर्बल वर्गो की प्रस्थिति में सुधार हो सका। शोषणकारी और असमानताकारी व्यवस्थाओं के विरूद्व कानून बनाने मे भी इन अध्ययेनों का विशेष योगदान है। वर्तमान समाज में समाज कल्याण की सम्पूर्ण योजना समाज के क्षेत्रीय अध्ययनों का ही परिणाम है।

5. **सामाजिक व्यवस्था के प्रति नया दृष्टिकोण** :— क्षेत्रीय अध्ययनों पर आधारित दृष्टिकोण एक ऐसा उपकरण है जिसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था को बदलते हुए मूल्यों के अनुसार एक नया रूप दिया जा सकता है। विभिन्न क्षेत्रों में जब सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक असमानताओं, परिवार, नातेदारी तथा स्त्रियों की प्रस्थिति से सम्बन्धित आनुभविक अध्ययन किये गये तो समाज में अधिकांश लोगों ने यह समझना शुरू कर दिया कि परम्परागत सामाजिक व्यवस्था के आधार पर एक ऐसे समाज को विकसित

नहीं किया जा सकता जो सामाजिक न्याय, समानता और बन्धुत्व के मूल्यों पर अधारित हो। इसका तात्पर्य है कि जन सामान्य के दृष्टिकोण को बदलने में आनुभविक दृष्टिकोण बहुत उपयोगी सिद्व हुआ है।

6. **सामाजिक समस्याओं के प्रति चेतना :–** आनुभविक अध्ययनों पर आधारित दृष्टिकोण से ही भारतीय समाज में एक नयी चेतना का विकास हुआ। कुछ समय पहले तक हम व्यवहार के जिन तरीकों को धार्मिक अथवा शास्त्रीय परम्परा के रूप में देखते थे, आज उन्हीं व्यवहारों को हम ऐसी समस्याओं के रूप में देखने लगे जो सामाजिक संगठन और सामाजिक प्रगति में बाधक हैं। उदाहरण के लिए शास्त्रीय दृष्टिकोण पर आधारित बालविवाह, विधवा पुनर्विवाह पर नियन्त्रण दहेज प्रथा, जातिगत विभेदों स्त्रियों के उत्पीडन तथा धार्मिक अन्धविश्वासों से उत्पन्न होने वाले दुष्परिणामों के कारण आज ऐसे व्यवहारों को सामाजिक समस्याओं के रूप में देखा जाने लगा है। इसी के फलस्वरूप भारतीय समाज का पुनर्निर्माण करने की प्रक्रिया आरम्भ हुई।

7. **परिवर्तन की प्रक्रियाओं का बोध :–** क्षेत्रीय अध्ययनों पर आधारित आनुभविक दृष्टिकोण की सहायता से ही परिवर्तन की उन प्रक्रियाओं को समझा जा सका जो ग्रामीण संरचना, सामाजिक स्तरीकरण, परिवार, अन्तवैयक्तिक सम्बन्धों, धार्मिक आचरणों और जातिगत विभेदों को नया रूप दे रही है। एम0एन0 श्रीनिवास ने क्षेत्र–कार्य (Field studies) के आधार पर इन प्रक्रियाओं को संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण, लौकिकीकरण तथा

नगरीकरण के रूप में स्पष्ट किया। मैकिम मैरिएट ने सार्वभौमिकरण तथा स्थानीकरण की प्रतिक्रयाओं का उल्लेख करके यह स्पष्ट किया कि किस प्रकार आज वृहत परम्पराओं के साथ स्थानीय विश्वासों पर आधारित छोटी–छोटी परम्पराएँ धर्म का अंग बनती जा रही हैं। मामूली तौर पर परिवर्तन की इन प्रक्रियाओं को केवल एक अवधारणा समझकर इन पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता लेकिन यही वे प्रक्रियाएँ हैं जिनकी सहायता से हम भारतीय समाज की वर्तमान संरचना को सही रूप से समझ सकते हैं।

8. **मूल्यों और मनोवृत्तियों में परिवर्तन** :– भारतीय समाज से सम्बन्धित आनुभविक अध्ययनों से जो निष्कर्ष प्राप्त हुए, उन्हीं के प्रभाव से आज हमारे समाज के विभिन्न वर्गो की मनोवृत्तियों में व्यापक परिवर्तन होने लगे हैं। अब अधिकांश लोग भाग्य की अपेक्षा व्यक्तिगत योग्यता और परिश्रम को अधिक महत्व देने लगे हैं। जातिगत विभेदों की जगह समानता और सामाजिक न्याय के मूल्य विकसित हो रहे हैं। समाज के विभिन्न वर्ग विश्वासों की जगह तार्किक व्यवहारों को अधिक महत्वपूर्ण मानने लगे हैं। धार्मिक कटटरता के स्थान पर धर्मनिरपेक्ष विचारों का महत्व बढ़ा है। दुर्बल वर्गो के लोग अपने अधिकारों के प्रति कहीं अधिक जागरूक होने लगे हैं। विभिन्न धर्मो और जातियें के बीच की परम्परागत दूरी कम होती जा रही है। ग्रामीण नेतृत्व में पिछडी और निम्न जातियों का सहभाग तेजी से बढ़ा है कुल मिलाकर क्षेत्रीय अध्ययनों की सहायता से समाज के दुर्बल वर्गो में एक ऐसी चेतना पैदा हुई जिससे हमारी सम्पूर्ण सामाजिक संरचना बदलने लगी।

डा0 दुबे ने लिखा है कि आनुभविक अध्ययन अधिक विश्वसनीय होते हैं क्योकि इनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष अनुभव से होता है। यही कारण है कि आज भारतीय समाज को समझने के लिए क्षेत्रीय अध्ययनों पर आधारित दृष्टिकोण को विशेष महत्व दिया जाने लगा है।

प्र03– भारतीय समाज की प्राचीन तथा आनुभविक दृष्टिकोंण में अन्तर्सम्बन्ध बतलाइये।

उत्तर– यह सच है कि भारतीय समाज से सम्बन्धित शास्त्रीय दृष्टिकोण एवं आनुभविक दृष्टिकोण से पूरी तरह मुक्त हो चुकी है। शास्त्रीय दृष्टिकोण भारतीय समाज की उन परम्पराओं से सम्बन्धित है जिनका अस्तित्व यहाँ हजारों वर्षों तक बना रहा। यदि हम नगरीय सामाजिक संरचना को छोड़ दें तो स्वतन्त्रता से पहले तक यहाँ के ग्रामीण सामाजिक जीवन अर्थात् जनसंख्या के तीन–चौथाई हिस्से का जीवन भारत की प्राचीन सामाजिक व्यवस्था अथवा शास्त्रीय दृष्टिकोण से ही प्रभावित रहा। क्षेत्रीय अध्ययनोंके आधार पर आज हम अपने समाज मे होने वाले जिन परिवर्तनों को अनुभव कर रहे हैं, व भी शास्त्रीय दृष्टिकोण का ही एक संशोधित रूप है। **प्रोफेसर योगेन्द्र सिंह** ने भी अपनी पुस्तक भारतीय परम्परा का आधुनिकीकरण में यह स्पष्ट किया है कि प्रत्येक समाज में प्राचीन परम्पराओं और व्यवहार के नये ढ़ग साथ–साथ विद्यमान रहते हैं। उदाहरण के लिए जिन ग्रामीण या जनजतीय समुदायों को हम पूरी तरह परम्परावादी दृष्टिकोण से प्रभावित मानते हैं, उनमें भी आज परिवर्तन के कुछ लक्षण अवश्य पाये जाते हैं। दूसरी ओर, क्षेत्रीय अध्ययनों के आधार पर जिन सामाजिक व्यवस्थाओं

और संस्थाओं में हम आमूल परिवर्तन हो जाने की बात करते हैं, उनमें भी शास्त्रीय परम्पराओं के तत्व अवश्य पाये जाते हैं। इसका अर्थ है कि भारतीय समाज से सम्बन्धित शास्त्रीय और अनुभविक दृष्टिकोण एक–दूसरे से पूरी तरह स्वतन्त्र नहीं बल्कि इनके बीच एक घनिष्ठ अन्तसम्बन्ध देखने को मिलता है। इस अर्न्तसम्बन्ध को अनेक क्षेत्रों में स्पष्ट किया जा सकता है। जिसे निम्नांकित बिन्दुओं के द्वारा समझा जा सकता है–

1. **डा0 श्यामाचरण दुबे :–** ने शास्त्रीय और आनुभविक दृष्टिकोण के अर्न्तसम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए लिखा है, शास्त्रीय रूप से व्यक्ति की प्रदत्त प्रस्थिति, जातियों का संस्तरण, कर्म काण्डीय पवित्रता और अपवित्रता, कर्म सम्बन्धी विश्वास तथा पुरूषार्थ भारतीय समाज के आधार रहे हैं–––अनेक प्रयत्नों से परम्परागत संस्तरण तथा जन्म पर आधारित प्रस्थिति में परिवर्तन से सम्बन्धित विश्वासों की शक्ति आज भी बनी हुई है। बाहरी रूप से इसकी आलोचना की जाती है लेकिन अदृश्य रूप से भारतीय समाज के एक बडे भाग में इन्हें आज भी स्वीकार किया जा रहा है। यहॉ तक कि गैर–हिन्दू धर्मो में भी जातिगत संस्तरण का प्रभाव आज भी बना हुआ है –– सभी व्यक्ति यह मानते हैं कि स्त्री–पुरूषों की समानता के सामाजिक और वैधानिक प्रयत्नों के बाद भी व्यावहारिक रूप से इनका विभेद आज भी कायम है। इससे स्पष्ट होता है कि क्षेत्रीय अध्ययन समाज में होने वाले परिवर्तन को अवश्य स्पष्ट करते हैं लेकिन उनसे शास्त्रीय परम्पराओं के प्रभाव को समाप्त नहीं किया जा सकता।

2. **प्रोफेसर योगेन्द्र सिंह :–** का स्पष्ट मत है कि हमारी सामाजिक संस्थाओं का कुछ रूपान्तरण जरूर हुआ है लेकिन लोगों का जीवन अपनी प्रचीन परम्पराओं से आज भी प्रभावित है। उदाहरण के लिए केन्द्रक परिवारों की संख्या में बहुत वृद्वि हो जाने के बाद भी अपने संयुक्त परिवार से अलग रहने वाले व्यक्ति जन्म, मृत्यु धार्मिक आयोजनों, संस्करों की पूर्ति और त्यौहारों के अवसर पर एक स्थान पर एकत्रित होकर एक–दूसरे के सुख–दुःख में हिस्सा लेते हैं। इसका तात्पर्य है कि व्यक्तियों के बन्धन से आज भी बंधा हुआ है।
3. **एम एन श्रीनिवास** ने यह माना है कि आनुभविक दृष्टिकोण से ऐसा प्रतीत होता है कि हम औद्योगीकरण नगरीकरण और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के क्षेत्र में बहुत तेजी से आगे बढ़ रहे हैं। इसके बाद भी वास्तविकता यह है कि बड़े–बड़े कारखानों और विज्ञान केन्द्रों की स्थापना के समय परम्परागत तरीके से नवगृहों की शान्ति और मंगलाचरण का आयोजन किया जाता है। बहुत से वैज्ञानिक उस दिन कोई शुभ काम आरम्भ नहीं करते जिस दिन राहु का प्रभाव अधिक होता है। इससे भी यह स्पष्ट है कि प्राचीन परम्पराएं तथा विकास की प्रक्रियाएं साथ–साथ चलती हैं
4. शास्त्रीय दृष्टिकोण तथा आनुभाविक दृष्टिोण इस आधार पर भी परस्पर सम्बन्धित हैं कि दोनों एक–दूसरे को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शक्ति प्रदान करते हैं। **राबर्ट रेडफील्ड** ने भारत की ग्रामीण सामाजिक संरचना का अध्ययन करके यह प्रमाणित किया कि प्राचीन या वृहत परम्पराएँ व्यवहार के नये तरीकों का विरोध

नहीं करती बल्कि नये व्यवहरों में प्राचीन मूल्यों का समावेश करके उन्हें अधिक उपयोगी बना देती हैं। इसी तरह जब हम समानता और न्याय जैसे तार्किक व्यवहारों के आधार पर अपनी संस्थाओं के रूप को बदलते हैं तो इसे प्राचीन परम्पराएँ समाप्त नहीं हो जाती बल्कि केवल उनके रूढ़िगत तत्वों में परिमार्जन की प्रक्रिया आरम्भ होती है। आज भी जब हम जीवन के किसी क्षेत्र या प्रयत्न में असफल होते हैं तो तुरन्त हम जाने–अनजाने में इसे अपने कर्मो का फल मानकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। इससे समाज के आधुनिकीकरण में किसी तरह की बाधा भी नहीं पहुँचती। सच हो यह है कि भारतीय समाज के जीवन को सन्तुलित और सुरक्षित बनाये रखने में कर्म के सिद्धान्त का आज भी उतना ही योगदान है जितना कि प्राचीन समय में था।

5. यदि व्यावहारिक रूप से देखा जाय तो भारतीय समाज के प्राचीन और आनुभविक दृष्टिकोण में इस कारण एक गहरा सम्बन्ध है कि किसी भी एक दृष्टिकोण की अवहेलना करके हम अपने समाज की समकालीन प्रकृति को नही समझ सकते। आज एक ही समुदाय से सम्बन्धित विभिन्न समूहों और व्यक्तियों के जीवन में प्राचीन और नये दृष्टिकोण का एक मिला–जुला रूप देखने को मिलता है। इसका तात्पर्य है कि शास्त्रीय और आनुभविक दोनों दृष्टिकोणों की सहायता से ही नगरीय और ग्रामीण समुदायों की सामाजिक संरचना और व्यवहार प्रतिमानों का सही विश्लेषण किया जा सकता है।

6. भारतीय समाज से सम्बन्धित शास्त्रीय तथा अनुभाविक दृष्टिकोण इस आधार पर भी एक दूसरे से सम्बन्धित हैं कि दोनों में से किसी भी एक दृष्टिकोण के आधार पर भारतीय समाज की सम्पूर्ण *सामाजिक संरचना तथा इससे सम्बन्धित विभिन्न संस्थाओं* को नही समझा जा सकता। जीवन के किसी क्षेत्र में आज शास्त्रीय परम्पराएँ अधिक प्रभावपूर्ण हैं तो कुछ क्षेत्रों में उन परिवर्तनशील प्रतिमानों का प्रभाव अधिक है जो क्षेत्रीय अध्ययनों के द्वारा प्रकाश में आये हैं। दूसरी बात यह है कि जिस तरह शास्त्रीय दृष्टिकोण के कारण समाज में अनेक प्रकार की असमानताओं और शोषणकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिला, उसी प्रकार वर्तमान सामाजिक संरचना में होने वाले परिवर्तनों ने भी अनेक नयी समस्याओं को जन्म दिया है। लोगों के सम्बन्धों में बढ़ती हुई औपचारिकता, अन्तर पीढ़ी तनाव, संजातीयता की प्रवृत्ति और विभिन्न जाति–समूहों के बीच बढ़ते हुए विरोध इसी तरह की समस्याएँ हैं।

वास्तविकता यह है कि जिस समाज का भी सांस्कृतिक इतिहास काफी पुराना होता है, उसकी संस्थाओं और मूल्यों में परिवर्तन आरम्भ हो जाने से विकास के रास्ते में कुछ न कुछ बाधाएँ और समस्याएँ जरूर पैदा होने लगती हैं। इसके बाद भी यह सच है कि भारत में अब एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था के प्रति चेतना बढ़ने लगी है जो समताकारी और मानवतावादी मूल्यों पर आधारित हो शास्त्रीय परम्पराओं पर आधारित भारतीय समाज में क्षेत्रीय अध्ययन इस दृष्टिकोण से विशेष रूप से महत्वपूर्ण है कि ऐसे अध्ययनों से हमें अपने सामाजिक स्तरीकरण, संस्थाओं और

मूल्यों का पुनरावलोकन करने तथा उनमें वर्तमान आवश्यकताओं के अनुसार संशोधन करने की प्रेरणा मिलती है।

प्र04– कुछ प्रमुख आधारों पर ग्रामीण नगरीय सम्बन्धों की विवेचना कीजिए ?

उत्तर– स्वतन्त्रता के बाद अनेक ऐसी दशाएँ पैदा हुई हैं जिनके प्रभाव से ग्रामीण नगरीय विभेद तेजी से कम होते जा रहे हैं। आवागमन और संचार के साधन, लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था, नयी प्रौद्योगिकी, स्थान परिवर्तन की प्रवृत्ति सामाजिक संरचना का बदलता हुआ रूप तथा शिक्षा के प्रति नयी चेतना आदि वे कड़ियाँ हैं जो ग्रामों और नगरों को एक–दूसरे के अधिक निकट ला रहीं है। विभिन्न क्षेत्रों में ग्रामीण और नगरीय जीवन की बढ़ती हुई समानता को निम्नकिंत क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है–

1. नयी प्रौद्यगिकी से उत्पन्न हाने वाली दशाओं के फलस्वरूप ग्रामीणों की मनोवृत्तियों और जीवन–शैली में वे सभी विशेषताएँ विकसित होने लगी है जो कुछ समय पहले तक केवल नगरीय जीवन में ही देखने को मिलती थी। ग्रामीण जब परम्परागत हल और बैलों से खेतों की जुताई को छोडकर ट्रैक्टर का उपयोग करने लगते हैं अथवा फसल की कटाई के लिए आधुनिक मशीनों को उपयोग में लाने लगते हैं तो उनके पारस्पारिक सम्बन्धों और मनोवृत्तियों में भी परिवर्तन होने लगता है। ग्रामीण स्त्रियॉ जब गैस और प्रेशर कुकर का उपयोग करने के साथ ही नये विकास कार्यक्रमों से सम्बन्धित उद्योगों के द्वारा आजीविका

उपार्जित करने लगती हैं तो उनके व्यवहारों में भी नगरीय विशेषताओं का समावेश होने लगता है। मनोवृत्तियों में होने वाला यही परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को जन्म देता है। स्पष्ट है कि आज यह नहीं कहा जा सकता कि ग्रामीण जीवन पूरी तरह परम्परागत है, जबकि नगरीय जीवन आधुनिक है। गाँवों में आधुनिकता की विशेषताओं का प्रसार होने से ग्रामीण नगरीय सम्बन्ध अधिक दृढ हुए हैं।

2. यह अर्थव्यवस्था के दृष्टिकोंण से देखा जाय तो भी ग्रामीण नगरीय निरन्तरता का एक नया रूप स्पष्ट होने लगता है। जिस तरह नगरों में बडी मात्रा के उत्पादन के कारण विकसित बाजार और प्रतियोगिता पर आधारित अर्थव्यवस्था पायी जाती है, उसी तरह ग्रामों में भी आर्थिक प्रतियोगिता बढ़ने के साथ ही बाजार व्यवस्था विकसित होने लगी है। नगर के बहुत से व्यापारी क्षेत्रों में इसलिए जाकर रहने लगते हैं जिससे गाँव में पैदा हाने वाले खाद्यान, सब्जियों, फलों या दूसरी तरह की फसलों को कम से कम मूल्य पर खरीदकर लाभप्रद बाजारों में ले जाया जाय। इस प्रतियोगिता के फलस्वरूप एक विशेष फसल से सम्बन्धित ग्रामीण क्षेत्र नये बाजार के रूप मे विकसित हो जाता है। यहाँ नगर और गाँव के लोगों के बीच उसी तरह की अन्तर्क्रियाएं देखने को मिलती है जैसे कि नगर के बाजारों में होती हैं। ग्रामीणों की आर्थिक स्थिति में सुधार होने के कारण वे स्वयं भी अपनी फसलों को गोदाम में सुरक्षित रखने और कुछ समय बाद उससे अधिकतम लाभ प्राप्त करने में कुशल होते जा

रहे हैं। यह एक ऐसा परिवर्तन है जिससे ग्रामीण नगरीय संयोजन की परम्परागत संरचना पूरी तरह बदलने लगी है।

3. भारत में वर्तमान लोकतान्त्रिक संरचना एक ऐसा आधार है जिसने ग्रामीण नगरीय सम्बन्धों को सुदृढ बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था चुनाव पर आधारित है। भारत की लगभग 72 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण होने के कारण सभी राजनीतिक दल गाँवों में अपना वोट बैंक स्थापित करने के लिए तरह–तरह से प्रयत्न करते हैं। लोकसभा और विधानसभा की सीटों से सम्बन्धित अधिकांश चुनाव क्षेत्र वे होते हैं जिनमें नगर और गाँव के क्षेत्र मिले हुए होते हैं। राजनीतिक दलों के मुख्य कार्यालय यद्यपि नगरों में स्थित होते है लेकिन ग्रामीण जनमत को अपने पक्ष में करने के लिए बडे–बडे राजनीतिक नेता अपने समर्थकों के साथ ग्रामीण क्षेत्रों का दौरा करते रहते हैं। इनके प्रभाव से गाँवों में भी उसी तरह का नेतृत्व विकसित होने लगता है। जैसा कि नगरों में पाया जाता है। गाँवों में विभिन्न राजनीतिक दलों से सम्बन्धित समर्थकों के अपने अलग–अलग गुट बन जाते हैं। इन गुटों के बीच संघर्ष और तनाव की घटनाएँ बढने से ग्रामीण जीवन में भी नगरों की तरह ही एक तरह का वर्ग विभेद स्पष्ट होने लगा है। समय–समय पर नगरों में आयोजित होने वाले प्रदर्शनों, अधिवेशन या धरने में भाग लेने के लिए जब हजारों की संख्या में किसी ग्रामीण क्षेत्र के लोग भाग लेते हैं तो उनके व्यवहरों और जीवन शैली में नगरीय की एक स्पष्ट झलक दिखायी देने लगती है। आज गाँव

पंचायत के चुनावों में भी वही प्रक्रियाएँ देखने को मिलती हैं जा नगर की राजनीति से सम्बन्धित है।

4. जनसंख्या की विभिन्नता के आधार पर भी ग्रामीण नगरीय अन्तःसम्बन्ध सुदृढ हुए हैं। कुछ समय पहले तक नगर को एक विभिन्नतायुक्त समुदाय तथा गाँव को एक संजातीय समुदाय कहा जाता था। आज अधिकांश ग्रामों में विभिन्न धर्मो, जातियों और आर्थिक वर्गों के लोग साथ–साथ रहते हैं। तथा उनके बीच उसी तरह विभिन्न आधारों पर एक स्पष्ट दूरी दिखायी देती है जैसी कि नगरों में देखने को मिलती है। भारत में जैसे–जैसे जनसंख्या में वृद्वि हो रही है, अधिकांश गाँवों का आकार भी बडा होता जा रहा है। ग्रामीणों में एक गाँव को छोडकर दूसरे गाँव में जाकर रहने की प्रवृत्ति बढ़ी है। इसके फलस्वरूप भी गाँवों में नगरों की तरह एक मिश्रित संस्कृति के तत्व बढ़ने लगे हैं।
5. प्रशासनिक आधार पर गाँवों और नगरों के बीच की दूरी निरन्तर कम होती जा रही है। गाँवों में जैसे–जैसे एक विभिन्नतायुक्त संस्कृति का विकास हुआ तथा नयी राजनीतिक संरचना के कारण तरह–तरह के तनावों में वृद्वि हुई, गाँव के लोगों को नगरों में स्थित न्यायालयों और प्रशासनिक अधिकारियों के कार्यालयों मे जाना पडता है। जिला ग्रामीण विकास एजेन्सी से सम्बन्धित कार्यक्रमों का लाभ उठाने के लिए भी ग्रामीणों का नगर के अधिकारियों से सम्बन्ध बढ़ा है। गाँवों में स्थित प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र स्कूल के अध्यापक और अनेक दूसरे

सरकारी विभागों के कर्मचारी भी नगरों से ही सम्बन्धित होते हैं। इनकी जीवन शैली का ग्रामीण समुदाय पर प्रभाव पडना बहुत स्वाभाविक है।

6. यदि सामाजिक सांस्कृतिक दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो ग्रामों में अनेक ऐसी विशेषताएँ विकसित हुई हैं जो नगरीय जीवन से अधिक भिन्न नहीं है। गाँवों में भी नगरो के समान विभिन्न जातियों का विभेद कमजोर पडता जा रहा है। पंचायत राज व्यवस्था के विभिन्न पदों पर अनुसूचित जातियों को मिलने वाले आरक्षण के फलस्वरूप नेतृत्व की प्रकृति में परिवर्तन आया है। गाँवों में जाति पंचायतें अब एक निष्क्रिय संस्था हैं। दूसरी ओर नगरों में यद्यपि किसी तरह की जाति पंचायतें या जजमानी सम्बन्ध नही होते लेकिन एक–एक क्षेत्र के व्यक्ति स्वंय को संगठित करके अपने अलग–अलग संघों का निर्माण कर रहें हैं। डा0 दुबे ने लिखा है कि नगरों में विभिन्न ग्रामीण क्षेत्रों के व्यक्तियों द्वारा कुछ विशेष क्षेत्रीय त्यौहारों को मनाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

नगरों को औपचारिक या द्वितीयक सम्बन्धों का केन्द्र माना जाता है लेकिन ग्रामों से नगर में आकर रहने वाले लोग नियमित रूप से अपनी आय का एक हिस्सा गाँव में स्थित अपने परिवार के लिए भेजते हैं तथा विवाह और दूसरे प्रमुख संस्कारों के अवसरों पर गाँव में जाकर उनमें सहभाग करते हैं। डा0 दुबे ने आगे लिखा है नगरीय जीवन का एक वर्तमान पहलू यह है कि यहॉ भी क्षेत्रीय आधार पर अनेक जाति संगठन फिर से

विकसित होने लगे है। यह संगठन चाहे अधिक स्थायी प्रकृति के न हों लेकिन इनका कार्य अपनी जाति से सम्बन्धित लोगों के जीवन में सुधार लाना है। विवाह की प्रक्रिया का संक्षिप्तीकरण तथा मृत्यु के उपरान्त होने वाले अवंछित कर्मकाण्डों की समाप्ति के लिए प्रयत्न करना इसका उदाहरण है। अनेक संगठन अपनी पत्रिकाएँ प्रकाशित करते हैं तथा अपनी जाति के प्रत्याशी को वोट देने का प्रोत्साहन देकर अपनी राजनीतिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न करते हैं। हम चाहे नगर में हों अथवा गाँव में, साधारणतया किसी भी आयोजन में सहभाग करने वाले लोग एक–दूसरे की जाति को कोई महत्व नही देते। अपनी मनोरंजन सम्बन्धी आवश्यकता को पूरा करने के लिए भी गाँव के एक विशेष वर्ग का नगरों से सम्बन्ध बढ़ा है।

इस सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट होता है कि गाँव और नगर के बीच अन्तःक्रियाएँ अधिक महत्वपूर्ण हुई है। इसी के प्रभाव से नगर तथा गाँव दानें की जीवन शैली और संस्कृति में नये प्रतिमान विकसित होने लगे हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आज ग्रामीण और नगरीय संस्कृति के बीच निरन्तरता विकसित हो रही है। मैकाइवर तथा पेज ने अनेक ऐसी कठिनाइयों का उल्लेख किया है जिनके सन्दर्भ में ग्रामीण नगरीय विभेद को स्पष्ट कर सकना बहुत कठिन हो जाता है। यह कठिनाइयॉ भी गाँव और नगर के अन्तः सम्बन्ध को ही स्पष्ट करती हैं।

1. **नगर और गाँव मे केवल मात्रा का अन्तर है।** (Urban and Rural a Matter of Degree)— नगर और गाँवों में आज कोई भी स्पष्ट भेद कर सकना इसलिए कठिन है कि कोई व्यक्ति यह नही बता सकता कि किस स्थान पर गाँव की विशेषताएँ समाप्त हो रही हैं और कहीं से नगरीय विशेषताओं का आरम्भ हो जाता है। गाँव और नगर के बीच तहसील कस्बा, टाउन एरिया आदि अनेक उप–क्षेत्र आ जाते हैं। भारत में ऐसे बहुत से स्थानों को नगर माना जाता है जिनमे जनसंख्या का घनत्व 400 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर से भी कम है। दूसरी ओर कुछ क्षेत्रों में ऐसे भी गाँव पाये जाते हैं जहॉ तक वर्ग किलोमीटर में जनसंख्या का घनत्व 400 लोगों से अधिक है।
2. **नगरों में विभिन्न प्रकार का पर्यावरण**— नगर तथा गाँव के बीच कुछ विशेष मनोवृत्तियों या जीवन स्तर के आधार पर भी कोई व्यावहारिक विभेद नहीं किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि कोई नगर चाहे छोटा हो या बडा उसमें लोगों के जीवन स्तर और मनोवृत्तियों में कोई समानता नही होती। कुछ व्यक्तियो की मनोवृत्तियों पूरी तरह नगरीय होती हैं, जबकि कुछ व्यक्ति ग्रामीण मनोवृत्तियॉ प्रदर्शित करते हैं। कुछ लोगों का जीवन स्तर बहुत उॅचा होता ह। जबकि अधिकांश लोगों का जीवन स्तर बिल्कुल ग्रामीणों की तरह अथवा कुछ अर्थो में उनसे भी निम्न होता है। क्षेत्र के आधार पर भी एक दूसरे से भिन्न जीवन स्तर और मनोवृत्तियों वाले लोगों को एक दूसरे से अलग नही किया जा सकता। दूसरी ओर गाँवों में ऐसे बहुत से व्यक्ति हैं जिनकी

मनोवृत्तियॉ नगर के समान बनने लगती हैं। इस दृष्टिकोण से नगर और गाँव की बीच किसी तरह का विभेद करना एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं है। गाँव और नगर की विवेचना सातत्य अथवा निरन्तरता के आधार पर ही की जानी चाहिए।

3. **नगर तथा गाँव का परिवर्तनशील स्वभाव**– वर्तमान युग की सबसे बडी समस्या यह है कि नगर और गाँवा में से किसी की भी प्रकृति को पूरी तरह स्थायी नहीं कहा जा सकता। जैसे–जैसे समाज मे परिवर्तन की प्रक्रिया प्रभावपूर्ण होती जा रही है। नगर और गाँवा की भौतिक तथा सामाजिक संरचना में भी स्पष्ट परिवर्तन देखे जा सकते हैं। औद्योगीकरण के फलस्वरूप नगर की सीमा से लगे गाँव नगरीय क्षेत्र में मिलते जा रहे हैं। इसके फलस्वरूप एक ओर नगरीय क्षेत्र में ग्रामीण विशेषताओं का प्रसार हो जाता है तो दूसरी ओर, जब लाखों ग्रामीण नगर के कारखानों और कार्यलयों में काम करने के बाद अपने गाँव में लौटते हैं तो ग्रामीण समुदाय में नगरीय विशेषताओं का प्रसार होने लगता है। इस आधार पर किन्हीं भी ऐसी सर्वमान्य विशेषताओं का उल्लेख नही किया जा सकता जिन्हें कसौटी मानकर गाँवा और नगर को एक–दूसरे से पृथक किया जा सके।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि आज नगर और गाँव के विभेद उतने स्पष्ट नहीं हैं जितना कि इन दोनों समुदायों के सांस्कृतिक तत्वों में मिश्रण की प्रक्रिया स्पष्ट है। सच तो यह है कि नगर और गाँव केवल एक प्रतिमान के रूप में एक दूसरे से भिन्न हैं लेकिन आज के परिवर्तनशील जीवन में नगर और गाँव का सही विश्लेषण पारस्परिक आदान–प्रदान एव अन्तःसम्बन्ध के आधार पर ही किया जा सकता है।